

सविनय अवज्ञा आंदोलन

फरवरी 1922 में महात्मा गांधी ने असहयोग आंदोलन वापस लेने का फैसला कर लिया। उनको लगता था कि आंदोलन हिंसक होता जा रहा है और सत्याग्रहियों को व्यापक प्रशिक्षण की जरूरत है। कांग्रेस के कुछ नेता इस तरह के जनसंघर्षों से थक चुके थे। वे 1919 के गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया एक्ट के तहत गठित की गई प्रांतीय परिषदों के चुनाव में हिस्सा लेना चाहते थे। उनको लगता था कि परिषदों में रहते हुए ब्रिटिश नीतियों का विरोध करना, सुधारों की वकालत करना और यह दिखाना भी महत्वपूर्ण है कि ये परिषदें लोकतांत्रिक संस्था नहीं हैं। सी.आर. दास और मोतीलाल नेहरू ने परिषद् राजनीति में वापस लौटने के लिए कांग्रेस के भीतर ही स्वराज पार्टी का गठन कर डाला। जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचंद्र बोस जैसे युवा नेता ज्यादा उग्र जनांदोलन और पूर्ण स्वतंत्रता के लिए दबाव बनाए हुए थे।

आंतरिक बहस व असहमति के इस माहौल में दो ऐसे तत्व थे जिन्होंने बीस के दशक के आखिरी सालों में भारतीय राजनीति की रूपरेखा एक बार फिर बदल दी। पहला कारक था विश्वव्यापी आर्थिक मंदी का असर। 1926 से कृषि उत्पादों की कीमतें गिरने लगी थीं और 1930 के बाद तो पूरी तरह धराशायी हो गई। कृषि उत्पादों की माँग गिरी और निर्यात कम होने लगा तो किसानों को अपनी उपज बेचना और लगान चुकाना भी भारी पड़ने लगा। 1930 तक ग्रामीण इलाक़े भारी उथल-पुथल से गुजरने लगे थे। इसी पृष्ठभूमि में ब्रिटेन की नयी टोरी सरकार ने सर जॉन साइमन क नेतृत्व में एक वैधानिक आयोग का गठन कर दिया। राष्ट्रवादो आंदोलन के जवाब में गठित किए गए इस आयोग को भारत में संवैधानिक व्यवस्था की कार्यशैली का अध्ययन करना था और उसके बारे में सुझाव देने थे। इस आयोग में एक भी भारतीय सदस्य नहीं था सारे अंग्रेज थे। 1928 में जब साइमन कमीशन भारत पहुँचा तो उसका स्वागत 'साइमन कमीशन वापस जाओ' (साइमन कमीशन गो बैक) के नारों से किया गया। कांग्रेस और मुस्लिम लीग, सभी पार्टियों ने प्रदर्शनों में हिस्सा लिया। इस विरोध को शांत करने के लिए वायसराय लॉर्ड इरविन ने अक्टूबर 1929 में भारत के लिए

‘डोमीनियन स्टेट्स’ का गोलमोल सा ऐलान कर दिया। उन्होंने इस बारे में कोई समय सीमा भी नहीं बताई। उन्होंने सिर्फ इतना कहा कि भावी संविधान के बारे में चर्चा करने के लिए गोलमेज सम्मेलन आयोजित किया जाएगा। इस प्रस्ताव से कांग्रेस के नेता संतुष्ट नहीं थे। जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचंद्र बोस के नेतृत्व में कांग्रेस का तेज-तरार खेमा आक्रामक तेवर अपनाने लगा था। उदारवादी और मध्यमार्गी नेता ब्रिटिश डोमीनियन के भीतर ही संवैधानिक व्यवस्था के पक्ष में थे। लेकिन इस खेमे का प्रभाव घटता जा रहा था। दिसंबर 1929 में जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में ‘पूर्ण स्वराज’ की माँग को औपचारिक रूप से मान लिया गया। तय किया गया कि 26 जनवरी 1930 को स्वतंत्रता दिवस के रूप में मनाया जाएगा और उस दिन लोग पूर्ण स्वराज के लिए संघर्ष की शपथ लेंगे। इस उत्सव की ओर बहुत कम ही लोगों ने ध्यान दिया। अब स्वतंत्रता के इस अमूर्त विचार को रोजमर्रा जिन्दगी के ठोस मुद्दों से जोड़ने के लिए महात्मा गांधी को कोई और रास्ता ढूँढ़ना था।

नमक यात्रा

देश को एकजुट करने के लिए महात्मा गांधी को नमक एक शक्तिशाली प्रतीक दिखाई दिया। 31 जनवरी 1930 का उन्होंने वायसराय इरविन को एक खत लिखा। इस खत में उन्होंने 11 माँगों का उल्लेख किया था। इनमें से कुछ सामान्य माँगें थीं जबकि कुछ माँगें उद्योगपतियों से लेकर किसानों तक विभिन्न तबकों से जुड़ी थीं। गांधीजी इन माँगों के जरिए समाज के सभी वर्गों को अपने साथ जोड़ना चाहते थे ताकि सभी उनके अभियान में शामिल हो सकें। इनमें सबसे महत्वपूर्ण माँग नमक कर को खत्म करने के बारे में थी। नमक का अमीर-गरीब, सभी इस्तेमाल करते थे। यह भोजन का एक अभिन्न हिस्सा था। इसीलिए नमक पर कर और उसके उत्पादन पर सरकारी इजारेदारी को महात्मा गांधी ने ब्रिटिश शासन का सबसे दमनकारी पहलू बताया था। महात्मा गांधी का यह पत्र एक अल्टीमेटम (चेतावनी) की तरह था। उन्होंने लिखा था कि अगर 11 मार्च तक उनकी माँगें नहीं मानी गईं तो कांग्रेस सविनय अवज्ञा आंदोलन छेड़ देगी। इरविन झुकने को तैयार नहीं थे। फलस्वरूप, महात्मा गांधी ने अपने 78 विश्वस्त

वॉलंटियरों के साथ नमक यात्रा शुरू कर दो। यह यात्रा साबरमती में गांधीजी के आश्रम से 240 किलोमीटर दूर दांडी नामक गुजराती तटीय क़स्बे में जाकर ख़त्म होनी थी। गांधीजी की टोली ने 24 दिन तक हर रोज़ लगभग 10 मील का सफ़र तय किया। गांधीजी जहाँ भी रुकते हज़ारों लोग उन्हें सुनने आते। इन सभाओं में गांधीजी ने स्वराज का अर्थ स्पष्ट किया और आह्वान किया कि लोग अंग्रेज़ों की शांतिपूर्वक अवज्ञा करें यानी अंग्रेज़ों का क़ह न मानें। 6 अप्रैल को वह दांडी पहुँचे और उन्होंने समुद्र का पानी उबालकर नमक बनाना शुरू कर दिया। यह क़ानून का उल्लंघन था।

यहीं से सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू होता है। यह आंदोलन असहयोग आंदोलन के मुक़ाबले अलग था इस बार लोगों को न केवल अंग्रेज़ों का सहयोग न करने के लिए बल्कि औपनिवेशिक क़ानूनों का उल्लंघन करने के लिए आह्वान किया जाने लगा। देश के विभिन्न भागों में हज़ारों लोगों ने नमक क़ानून तोड़ा, और सरकारी नमक कारख़ानों के सामने प्रदर्शन किए। आंदोलन फैला तो विदेशी कपड़ों का बहिष्कार किया जाने लगा। शराब की दुकानों की पिकेटिंग होने लगी। किसानों ने लगान और चौकीदारी कर चुकाने से इनकार कर दिया। गाँवों में तैनात कर्मचारी इस्तीफ़े देने लगे। बहुत सारे स्थानों पर जंगलों में रहने वाले वन क़ानूनों का उल्लंघन करने लगे। वे लकड़ी बीनने और मवेशियों को चराने के लिए आरक्षित वनों में घुसने लगे।

इन घटनाओं से चिंतित औपनिवेशिक सरकार कांग्रेसी नेताओं को गिरफ़्तार करने लगी। बहुत सारे स्थानों पर हिंसक टकराव हुए। अप्रैल 1930 में जब महात्मा गांधी के समर्पित साथी अब्दुल ग़फ़ार ख़ान को गिरफ़्तार किया गया तो गुस्साई भीड़ सशस्त्र बख़्तरबंद गाड़ियाँ और पुलिस की गोलियों का सामना करते हुए सड़कों पर उतर आई। बहुत सारे लोग मारे गए। महीने भर बाद जब महात्मा गांधी को भी गिरफ़्तार कर लिया गया तो शोलापुर के औद्योगिक मजदूरों ने अंग्रेज़ो शासन का प्रतीक पुलिस चौकियों, नगरपालिका भवनों, अदालतों और रेलवे स्टेशनों पर हमले शुरू कर दिए। भयभीत सरकार ने निर्मम दमन का रास्ता अपनाया। शांतिपूर्ण सत्याग्रहियों पर हमले किए गए, औरतों व बच्चों को मारा-पीटा गया और लगभग एक लाख लोग गिरफ़्तार किए गए।

महात्मा गांधी ने एक बार फिर आंदोलन वापस ले लिया। 5 मार्च 1931 को उन्होंने इरविन के साथ एक समझौते पर दस्तखत कर दिए। इस गांधी-इरविन समझौते के जरिए गांधीजी ने लंदन में होने वाले दूसरे गोलमेज सम्मेलन में हिस्सा लेने पर अपनी सहमति व्यक्त कर दी (पहले गोलमेज सम्मेलन का कांग्रेस बहिष्कार कर चुकी थी)। इसके बदले सरकार राजनीतिक कैदियों को रिहा करने पर राजो हो गई। दिसंबर 1931 में सम्मेलन के लिए गांधीजी लंदन गए। यह वार्ता बीच में ही टूट गई और उन्हें निराश वापस लौटना पड़ा। यहाँ आकर उन्होंने पाया कि सरकार ने नए सिरे से दमन शुरू कर दिया है। गफ़्फ़ार ख़ान और जवाहरलाल नेहरू, दोनों जेल में थे। कांग्रेस को ग़ैरक़ानूनी घोषित कर दिया गया था। सभाओं, प्रदर्शनों और बहिष्कार जैसी गतिविधियों को रोकने के लिए सख़्त क़दम उठाए जा रहे थे। भारी आशंकाओं के बीच महात्मा गांधी ने सविनय अवज्ञा आंदोलन दोबारा शुरू कर दिया। साल भर तक आंदोलन चला लेकिन 1934 तक आते-आते उसकी गति मंद पड़ने लगी थी।

लोगां ने आंदोलन को कैसे लिया

गाँवों में संपन्न किसान समुदाय-जैसे गुजरात के पटीदार और उत्तर प्रदेश के जाट आंदोलन में सक्रिय थे। व्यावसायिक फसलों की खेती करने के कारण व्यापार में मंदी और गिरती क़ीमतां से वे बहुत परेशान थे। जब उनकी नक़द आय खत्म होने लगी तो उनके लिए सरकारो लगान चुकाना नामुमकिन हो गया। सरकार लगान कम करने को तैयार नहीं थी। चारों तरफ़ असंतोष था। संपन्न किसानों ने सविनय अवज्ञा आंदोलन का बढ़-चढ़ कर समर्थन किया। उन्होंने अपने समुदायों को एकजुट किया और कई बार अनिच्छुक सदस्यों को बहिष्कार के लिए मजबूर किया। उनके लिए स्वराज की लड़ाई भारी लगान के खिलाफ़ लड़ाई थी। लेकिन जब 1931 में लगानों के घटे बिना आंदोलन वापस ले लिया गया तो उन्हें बड़ी निराशा हुई। फलस्वरूप, जब 1932 में आंदोलन दुबारा शुरू हुआ तो उनमें से बहुतों ने उसमें हिस्सा लेने से इनकार कर दिया। ग़रीब किसान केवल लगान में कमी नहीं चाहते थे। उनमें से बहुत सारे किसान जमींदारों से पट्टे पर जमीन लेकर खेती कर रहे थे। महामंदी लंबी खिंची और नक़द आमदनो गिरने लगी तो छोटे पट्टेदारों के लिए जमीन का किराया चुकाना भी मुश्किल हो गया। वे

चाहते थे कि उन्हें जमींदारों को जो भाड़ा चुकाना था उसे माफ़ कर दिया जाए। इसके लिए उन्होंने कई रेडिकल आंदोलनों में हिस्सा लिया जिनका नेतृत्व अकसर समाजवादियों और कम्युनिस्टों के हाथों में होता था। अमीर किसानों और जमींदारों की नाराजगी के भय से कांग्रेस 'भाड़ा विरोधी' आंदोलनों को समर्थन देने में प्रायः हिचकिचाती थी। इसी कारण ग़रीब किसानों और कांग्रेस के बीच संबंध अनिश्चित बने रहे।

व्यवसायी वर्ग पहले विश्वयुद्ध के दौरान भारतीय व्यापारियों और उद्योगपतियों ने भारी मुनाफ़ा कमाया था और वे ताक़तवर हो चुके थे। अपने कारोबार को फैलाने के लिए उन्होंने ऐसी औपनिवेशिक नीतियों का विरोध किया जिनके कारण उनकी व्यावसायिक गतिविधियों में रुकावट आती थी। वे विदेशी वस्तुओं के आयात से सुरक्षा चाहते थे और रुपया-स्टर्लिंग विदेशी विनिमय अनुपात में बदलाव चाहते थे जिससे आयात में कमी आ जाए। व्यावसायिक हितों को संगठित करने के लिए उन्होंने 1920 में भारतीय औद्योगिक एवं व्यावसायिक कांग्रेस (इंडियन इंडस्ट्रियल एंड कमर्शियल कांग्रेस) और 1927 में भारतीय वाणिज्य एवं उद्योग परिसंघ (फेडरेशन ऑफ़ इंडियन चैंबर ऑफ़ कॉमर्स एंड इंडस्ट्री फिक्की) का गठन किया। पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास आर जी.डी. बिड़ला जैसे जाने-माने उद्योगपतियों के नेतृत्व में उद्योगपतियों ने भारतीय अर्थव्यवस्था पर औपनिवेशिक नियंत्रण का विरोध किया और पहले सिविल नाफ़रमानी आंदोलन का समर्थन किया। उन्होंने आंदोलन को आर्थिक सहायता दी और आयातित वस्तुओं को खरीदने या बेचने से इनकार कर दिया। जयादातर व्यवसायी स्वराज को एक ऐसे युग के रूप में देखते थे जहाँ कारोबार पर औपनिवेशिक पाबंदियाँ नहीं होंगी और व्यापार व उद्योग निर्बाध ढंग से फल-फूल सकेंगे। गोलमेज सम्मेलन की विफलता के बाद व्यावसायिक संगठनों का उत्साह भी मंद पड़ गया था। उन्हें उग्र गतिविधियों का भय था। वे लंबी अशांति की आशंका और कांग्रेस के युवा सदस्यों में समाजवाद के बढ़ते प्रभाव से डरे हुए थे।

औद्योगिक श्रमिक वर्ग ने सविनय अवज्ञा आंदोलन में नागपुर के अलावा और कहीं भी बहुत बड़ी संख्या में हिस्सा नहीं लिया। जैसे-जैसे उद्योगपति कांग्रेस के नजदीक आ रहे थे, मजदूर कांग्रेस से छिटकने लगे थे। फिर भी, कुछ मजदूरों ने सविनय अवज्ञा

आंदोलन में हिस्सा लिया। उन्होंने विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार जैसे कुछ गांधीवादी विचारों को कम वेतन व खराब कार्यस्थितियों के खिलाफ अपनी लड़ाई से जोड़ लिया था। 1930 में रेलवे कामगारों की और 1932 में गोदी कामगारों की हड़ताल हुई। 1930 में छोटा नागपुर की टिन खानों के हजारों मजदूरों ने गांधी टोपी पहनकर रैलियों और बहिष्कार अभियानों में हिस्सा लिया। फिर भी, कांग्रेस अपने कार्यक्रम में मजदूरों की माँगों का समाहित करने में हिचकिचा रही थी। कांग्रेस को लगता था कि इससे उद्योगपति आंदोलन से दूर चले जाएँगे और साम्राज्यवाद विरोधी ताकतों में फूट पड़ेगी।

सिविल नाफरमानी आंदोलन में औरतों ने बड़े पैमाने पर हिस्सा लिया। गांधीजी के नमक सत्याग्रह के दौरान हजारों औरतें उनकी बात सुनने के लिए घर से बाहर आ जाती थीं। उन्होंने जुलूसों में हिस्सा लिया, नमक बनाया, विदेशी कपड़ों व शराब की दुकानों की पिकेटिंग की। बहुत सारी महिलाएँ जेल भी गईं। शहरी इलाकों में ज्यादातर ऊँची जातियों की महिलाएँ सक्रिय थीं जबकि ग्रामीण इलाकों में संपन्न किसान परिवारों की महिलाएँ आंदोलन में हिस्सा ले रही थीं। गांधीजी के आह्वान के बाद औरतों को राष्ट्र की सेवा करना अपना पवित्र दायित्व दिखाई देने लगा था। लेकिन सार्वजनिक भूमिका में इस इजाफ़ का मतलब यह नहीं था कि औरतों की स्थिति में कोई भारी बदलाव आने वाला था। गांधीजी का मानना था कि घर चलाना, चूल्हा-चौका सँभालना, अच्छी माँ व अच्छी पत्नी को भूमिकाओं का निर्वाह करना ही औरत का असली कर्तव्य है। इसीलिए लंबे समय तक कांग्रेस संगठन में किसी भी महत्वपूर्ण पद पर औरतों को जगह देने से हिचकिचाती रही। कांग्रेस को उनकी प्रतीकात्मक उपस्थिति में ही दिलचस्पी थी।

सविनय अवज्ञा की सीमाएँ

सभी सामाजिक समूह स्वराज की अमूर्त अवधारणा से प्रभावित नहीं थे। ऐसा ही एक समूह राष्ट्र के 'अछूतों' का था। वे 1930 के बाद खुद को दलित या उत्पीड़ित कहने लगे थे। कांग्रेस ने लंबे समय तक दलितों पर ध्यान नहीं दिया क्योंकि कांग्रेस रूढ़िवादी सवर्ण हिंदू सनातनपंथियों से डरी हुई थी। लेकिन महात्मा गांधी ने ऐलान किया कि अस्पृश्यता (छुआछूत) को खत्म किए बिना सौ साल तक भी स्वराज की स्थापना नहीं

की जा सकती। उन्होंने 'अछूतों' को हरिजन यानी ईश्वर की संतान बताया। उन्हें मंदिरों, सार्वजनिक तालाबों, सड़कों और कुओं पर समान अधिकार दिलाने के लिए सत्याग्रह किया। मैला ढोनेवालों के काम को प्रतिष्ठा दिलाने के लिए वे खुद शौचालय साफ करने लगे। उन्होंने ऊँची जातियों का आह्वान किया कि वे अपना हृदय परिवर्तन करें और 'अस्पृश्यता के पाप' का छोड़ें। लेकिन बहुत सारे दलित नेता अपने समुदाय की समस्याओं का अलग राजनीतिक हल ढूँढ़ना चाहते थे। वे खुद को संगठित करने लगे। उन्होंने शिक्षा संस्थानों में आरक्षण के लिए आवाज उठाई और अलग निर्वाचन क्षेत्रों की बात कही ताकि वहाँ से विधायी परिषदों के लिए केवल दलितों को ही चुनकर भेजा जा सके। उनका मानना था कि उनकी सामाजिक अपंगता केवल राजनीतिक सशक्तीकरण से ही दूर हो सकती है। इसलिए सविनय अवज्ञा आंदोलन में दलितों की हिस्सेदारी काफी समित थी। महाराष्ट्र और नागपुर क्षेत्र में यह बात खासतौर से दिखाई देती थी जहाँ उनके संगठन काफी मजबूत थे। डॉ. अंबेडकर ने 1930 में दलितों को दमित वर्ग एसोसिएशन (**Depressed Classes Association**) में संगठित किया। दलितों के लिए अलग निर्वाचन क्षेत्रों के सवाल पर दूसरे गोलमेज सम्मेलन में महात्मा गांधी के साथ उनका काफी विवाद हुआ। जब ब्रिटिश सरकार ने अंबेडकर की माँग मान ली तो गांधीजी आमरण अनशन पर बैठ गए। उनका मत था कि दलितों के लिए अलग निर्वाचन क्षेत्रों की व्यवस्था से समाज में उनके एकीकरण की प्रक्रिया धीमी पड़ जाएगी। आखिरकार अंबेडकर ने गांधीजी की राय मान ली और सितंबर 1932 में पूना पैक्ट पर हस्ताक्षर कर दिए। इससे दमित वर्गों (जिन्हें बाद में अनुसूचित जाति के नाम से जाना गया) को प्रांतीय एवं केंद्रीय विधायी परिषदों में आरक्षित सीटें मिल गईं हालाँकि उनके लिए मतदान सामान्य निर्वाचन क्षेत्रों में ही होता था। फिर भी, दलित आंदोलन कांग्रेस के नेतृत्व में चल रहे राष्ट्रीय आंदोलन को शंका की दृष्टि से ही देखता रहा।

भारत के कुछ मुस्लिम राजनीतिक संगठनों ने भी सविनय अवज्ञा आंदोलन के प्रति कोई खास उत्साह नहीं दिखाया। असहयोग-खिलाफत आंदोलन के शांत पड़ जाने के बाद मुसलमानों का एक बहुत बड़ा तबका कांग्रेस से कटा हुआ महसूस करने लगा था।

1920 के दशक के मध्य से कांग्रेस हिंदू महासभा जैसे हिंदू धार्मिक राष्ट्रवादी संगठनों के काफी करीब दिखने लगी थी। जैसे-जैसे हिंदू-मुसलमानों के बीच संबंध खराब होत गए, दोनों समुदाय उग्र धार्मिक जुलूस निकालने लगे। इससे कई शहरों में हिंदू-मुस्लिम सांप्रदायिक टकराव व दंगे हुए। हर दंगे के साथ दोनों समुदायों के बीच फासला बढ़ता गया। कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने एक बार फिर गठबंधन का प्रयास किया। 1927 में ऐसा लगा भी कि अब एकता स्थापित हो ही जाएगी। सबसे महत्वपूर्ण मतभेद भावी विधान सभाओं में प्रतिनिधित्व के सवाल पर थे। मुस्लिम लीग के नेताओं में से एक, मोहम्मद अली जिन्ना का कहना था कि अगर मुसलमानों को केंद्रीय सभा में आरक्षित सीटें दी जाएँ और मुस्लिम बहुल प्रांतों (बंगाल और पंजाब) में मुसलमानों को आबादी के अनुपात में प्रतिनिधित्व दिया जाए तो वे मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचिका की माँग छोड़ने के लिए तैयार हैं। प्रतिनिधित्व के सवाल पर यह बहस-मुबाहिसा चल ही रहा था कि 1928 में आयोजित किए गए सर्वदलीय सम्मेलन में हिंदू महासभा के एम. आर. जयकर ने इस समझौते के लिए किए जा रहे प्रयासों की खुलेआम निंदा शुरू कर दी जिससे इस मद्दु के समाधान की सारी संभावनाएं समाप्त हो गईं। जब सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू हुआ उस समय समुदायों के बीच संदेह और अविश्वास का माहौल बना हुआ था। कांग्रेस से कटे हुए मुसलमानों का बड़ा तबका किसी संयुक्त संघर्ष के लिए तैयार नहीं था। बहुत सारे मुस्लिम नेता और बुद्धिजीवी भारत में अल्पसंख्यकों के रूप में मुसलमानों की हैसियत को लेकर चिंता जता रहे थे। उनको भय था कि हिंदू बहुसंख्या के वर्चस्व की स्थिति में अल्पसंख्यकों की संस्कृति और पहचान खो जाएगी।